लाल खून नीली आंखे
दिल्ली बस की दास्तां

15 अक्टूबर 2007 को पश्चिमी दिल्ली की एक धर्मशाला में करीब 4,000 ब्लूलाईन बस चालकों का सम्मिलन हुआ। विषय था उनके खिलाफ चल रहे पुलिस कार्यवाही के बारे में क्या किया जाए। ज़ाहिर है, चालकों के साथ,साथ उस दिन बसें भी सड़कों से नदारद रहीं। अगले दिन अख़बारों की सुर्खियों ने चीखना शुरू किया, ''ब्लू ब्लैकमेल'', और ''दिल्ली में आतंक'', और मुख्य मंत्री ने धमकाया कि बसों को वापस लाने के लिये 'एसमा' का भी प्रयोग किया जा सकता है। सूझ–बूझ से काम लेने के बजाय ऐसा लगा मानों सब अपना बैर उतार रहे हैं। जबकि दो ही दिन पूर्व सरकार और समाचार पत्र दोनों ऐलान कर रहे थे कि ब्लूलाईन बसों को सड़क से हटा देना चाहिए। लगता है ईराक युद्ध के पश्चात सत्ता की चापलूसी करना अख़बारों का धर्म बन गया है। चित्त भी मेरा, पट भी मेरी, अंटा मेरा बाप का।

क्या वजह है कि मुख्य अख़बार (और उनके मध्यम वर्गीय पाठक) सरकार के आक्रामक रूप को तूल दे रहे हैं? शायद इन्हीं अख़बारों में प्रकाशित आंकड़ों से इस सवाल का जवाब मिल सके। मसलन, हमें बेरहमी से बताया जा रहा है कि ब्लूलाईन बसों की वजह से इस साल 100 लोगों की मौत हुई है। लेकिन उन्हीं अख़बारों के पन्ने पलटे जायें तो पता चलता है कि जनवरी से अक्टूबर 2007 तक सिर्फ 26 दुर्घटनाओं की ख़बरें छपी हैं जिसमें 33 लोग मारे गये हैं यह बात भी बगल से निकल आई है कि पिछले साल 122 ब्लूलाईन सम्बन्धित मौतें हुई थी जो कुल सड़क दुर्घटनाओं की मौतों का केवल 6% थी। तो फिर इस साल ही क्यों इतना गुस्सा उमड़ रहा है और हज़ारों अन्य मौतों को नज़र अंदाज किया जा रहा है?

जो बदकिस्मती से इन दुर्घटनाओं के शिकार हुए हैं उनके आंकड़ें भी चौंकाने वाले हैं। 33 में से 13 पैदल यात्री थे, 8 दो–पहिया वाहल चला रहे थे, 4 साइकिल पर सवार थे, 3 बस से उतर रहे थे, 2 बस के भीतर थे, और केवल 1 मोटर गाड़ी में था। इस तरह से मौतों का होने का क्या कारण हो सकता है? अगर ब्लूलाईन बसें बीच सड़क में अनियंत्रित रूप से चल रही हैं, जैसे कि पुलिस का आरोप है तब तो उनको मोटरकारों से ज्यादा टकराना चाहिए था। परंतु आंकड़ों से तो लगता है कि बस सड़क के उसी हिस्से में है जहां पैदल यात्री और दो–पहिया वाहन पाये जाते हैं। यह भी सवाल पैदा होता है कि अचानक मीडिया ऐसे लोगों के बारे में क्यों चिंतित दिखाई देती है, जबकि उन्हीं लोगों के ज्यादा महत्वपूर्ण आवास, जीविका, और सुरक्षा के मुद्दों से मीडिया दूर रहती है?

शायद यह चिंता नकली है और नाराज़गी के नकाब के पीछे कुछ और ही है? सरकारी आंकड़ों के मुताबिक सड़कों पर 60% मुसाफिर बसों से यात्रा करते हैं, और केवल 27% व्यक्तिगत दो–पहिया या चार पहिया वाहनों पर सवार हैं। परंतु गाड़ियों की संख्या को देखें तो सिर्फ 1% ही बस हैं। और जब 'साफ' सी.एन.जी. की मुहिम चली तो 4,400 डी.टी.सी. बसों में से भी 1,400 बसों का सफाया हो गया। यदि मीडिया सचमुच आम लोगों के बारे में चिंतित है तो वह क्यों नहीं अधिक बसों, और बसों के लिये सड़क पर अधिक जगह की मांग उठा रही है? 1998 में भी अदालत ने आदेश जारी किया था कि दिल्ली में बसों की संख्या को 10,000 तक बढ़ाया जाये, लेकिन आज भी 8,300 बसें ही हैं (जिसमें से 1,200 अंतर्राजकीय रूटों पर चलती हैं) और अदालत मौन है और सरकार ने अभी ऐलान किया है कि 2009 तक ब्लूलाईन को समाप्त करके 4,500 नयी बसों के आने की सम्भावना है।

बसों की इतनी कमी क्यों है जब निजी वाहनों की बिक्री पर कोई पाबंदी नहीं है? यह क्या सिर्फ भ्रष्टाचार का मामला है या क्या इसमें नीति के भी दांव–पेंच हैं? आज कल कहा जा रहा है कि बसों को बड़ी कम्पनियों के हवाले कर देने से दिल्ली की परिवहन व्यवस्था सुधर जायेगी। लेकिन 1948 में बिल्कुल उल्टा तर्क देकर बसों का राष्ट्रीयकरण किया गया था। 1958 में दिल्ली नगर निगम ने उनकी बागडोर सम्भली, 1971 में केन्द्रीय सरकार ने, और 1996 में दिल्ली सरकार नें। इसके साथ–साथ 1988 से डी.टी.सी. में कोई नई भर्ती नहीं हुई है और 8,300 में से 5,200 बसें पुनः निजी मालिकों को सौंप दी गयी है। छः दशकों से नीति निर्धारक हर तरह की व्यवस्था का प्रयोग कर चुके हैं लेकिन कोई हल नहीं निकाल पाये हैं।

इन्हीं नीति निर्धारकों ने तय किया है कि नई बसों में बमुश्किल रु.1,800 करोड़ खर्च किये जायेंगे जबकि मेट्रो के लिये पैसों की कोई कमी नहीं है। पहले चरण में रु.6,000 करोड़ खर्च हो चुके हैं, दूसरे चरण में रु.11,000 करोड़ और खर्च होने वाले हैं। कुल मिला कर मेट्रो 2011 तक 26 लाख मुसाफिरों को सेवायें प्रदान करेगि जबकि आज के हालात में बसों पर 55 लाख सवार हैं। मेट्रो का सबसे सस्ता टिकट रु.7 का है, जबकि बस उससे ज्यादा लम्बाई रु.3 में तय कर देती है। इसी लिये, मुकाबले से बचने के लिये, डी.टी.सी. की 58 बसें और एस.टी.ए. की 106 बसें मेट्रो रूट से हटा दी गई हैं ताकि दिल्ली के आम आदमी को ज्यादा महंगी सेवाओं का 'लाभ' मिले।

क्रमशः बसों और चालकों की घटती संख्या, निजीकरण की बढ़ती कदमें, अधिक महंगे परिवहन, और तथ्यों को छुपाने के साथ, आने वाले कॉमनवेल्थ गेम्स के लिए 40 फ्लाईओवर, 9 कार पार्क, 6 गुना बड़ा हवाई अड्डा, रिंग रोड का एक्सप्रेसवे में परिवर्तन, और 170 किलोमीटर के सड़कों को चौड़ा और ''सुंदर'' करने की योजना भी तैयार है। इन सबसे निजी वाहन और बढ़ेंगे, सड़कों पर उनका कब्जा और बढ़ेगा, और पैदल और साइकिल यात्रियों के लिये जो थोड़ी बहुत जगह बची हैं, वह भी लुप्त होने वाली है। फिर उनको वाहनों से कौन बचायेगा, क्या मौतों की तादाद घट जायेगी? बसों के लिये भी क्या जगह होगी? या दिल्ली के आम आदमी को स्कूटर और मोटरसाइकिल खरीदने के लिये मजबूर किया जायेगा?

आखिर इन नीतियों को कौन बनाता है और उनकी नीली आंखे क्यों नहीं सड़कों पर लहूलुहान जनता को देख पाती हैं? कभी उनसे जवाबदेही मांगी जायेगी? या हर हादसे के बाद उनको फिर से नई नीतियों को ऐलान करने की छूट दी जायेगी? क्या वजह है कि अदालत, पुलिस, प्रशासक, और नीति निर्धारक सभी एक ''विश्व–स्तरीय'' शहर का सपना ही देख पा रहे हैं जिसमें आम लोगों की ज़िन्दगी की कोई कीमत नहीं है? प्रजातन्त्र में प्रजा और प्रेस को इसी तरह के सवालों को उठाने की खलबली होनी चाहिये। परंतु 'ग्लोबल' दुनिया में प्रेस सत्ताधारियों का अंग बन गई है और प्रजा पुतलों की तरह नाच रही है।
आखिर यह मोहभंग कब होगा?